अक्तूबर १९९३ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धम्म वाणी

यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो मं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥

जो पहले प्रमाद करके भी पीछे प्रमाद नहीं करता, वह इस लोक में मेघमुक्त चन्द्रमा सदृश प्रभासमान होता है।

धम्मपद १३/६

आत्म-कथन

मनों बोझ उतर गया !

'हाथ कंगन को आरसी क्या?', 'प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या?' इसी सिद्धान्त के अनुसार विपश्यना के व्यावहारिक प्रयोगात्मक पक्ष पर संदेह करने का कोई कारण नहीं था। विपश्यना का सुखद परिणाम ही उसकी उपादेयता का प्रत्यक्ष प्रमाण था। विकार-विमोचन कोई अंध-मान्यता की बात नहीं थी, अनुभव-जन्य तथ्य था। जैसे-जैसे साधना की गहराइयों में उतरता गया, उसका सार्वभौमिक, वैज्ञानिक पक्ष स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया। परंतु फिर भी मानस पर सम्प्रदायवादी दार्शनिकता के बहुत मोटे-मोटे लेप लगे रहने के कारण सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर शक-संदेह बार-बार सिर उठाता रहा।

मार्ग तो बड़ा अच्छा है। सुखद-परिणामी है। आशुफलदायी है। वैज्ञानिक है। सार्वजनीन है। परंतु फिर भी है तो नास्तिकवादी। मेरे जैसा परम आस्तिक व्यक्ति कहीं नास्तिक न बन जाय। इसकी गहरी आशंका बार-बार मन में कुलबुलाती रहती थी।

यह उन दिनों की बात है जबकि भारत से विलुप्त हुई बुद्ध-वाणी का किंचित-मात्र भी अध्ययन नहीं किया था। इसी कारण यह जानकारी भी नहीं थी कि बुद्धकालीन भारत में भी नास्तिक शब्द अत्यंत गर्हित था। स्वयं भगवान बुद्ध ने भी इस शब्द का इसी भाव में प्रयोग किया था। परंतु उन दिनों इस शब्द की व्याख्या कुछ और ही थी। उन दिनों नास्तिक उसे कहते थे जो कि कर्म और कर्म-फल के नैसर्गिक सिद्धान्त को नहीं मानता था। जो इसे मानता था वह आस्तिक कहलाता था। कर्म और उसके अनुसार कर्म-फल को न मानने वाले लोग इस मत के थे कि न किसी अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है, न बुरे का बुरा। यदि लोगों की हत्या करते हुए नदी का पूरा पाट लाशों से भर दें तो भी उसका कोई दुष्फल नहीं होता। ऐसी धर्म-विरोधी वृत्ति वाले लोग नास्तिक कहलाते थे। अतः स्पष्ट ही यह शब्द बड़े घृणित अर्थ में प्रयुक्त होता था। कुछ समय बीतने पर भगवान बुद्ध को इसी शब्द से धिक्कारने के लिए कुछ लोगों द्वारा इसका अर्थ ही बदल दिया गया। यह लोग अपने निहित स्वार्थों से बुरी तरह ग्रसित थे। भगवान की शिक्षा में कोई खोट न होने के कारण उन्हें किसी प्रकार भी धिक्कारा नहीं जा सकता था। उन्होंने जन्म पर आधारित समाज की चतुर्वर्णीय व्यवस्था को अस्वीकार किया था। कुछ लोगों के लिए यह बहुत अखरने वाली बात थी। चतुर्वर्णी व्यवस्था की प्रामाणिकता के लिए वह अपने धर्म-शास्त्रों की दुहाई देते थे जो कि भगवान को सर्वथा अमान्य थी। ऐसे लोगों ने नास्तिक शब्द के डंडे से भगवान बुद्ध पर हमला करना चाहा। उन्होंने उसका अर्थ बदल दिया। अब उसका अर्थ यह कर दिया गया कि नास्तिक वह जो वेद वाणी को प्रमाण नहीं मानता और आस्तिक वह जो उसे प्रमाण मानता है। यह व्याख्या कुछ लोगों को स्वीकार्य हुई होगी, कुछ को नहीं। क्योंकि वेद में हिंसक यज्ञों का विधान भी था जिसकी मान्यता देश से बिल्कुल समाप्त हो चुकी थी। अतः कालांतर में भगवान बुद्ध पर आक्रमण करने के लिए नास्तिक शब्द का एक और नया अर्थ प्रचलित किया गया। वह यह कि जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करे वह नास्तिक, जो स्वीकार करे वह आस्तिक। धीरे-धीरे यही अर्थ समाज में सर्वव्यापी हो गया, सर्वमान्य हो गया।

मैं भी इसी गलत अर्थ से प्रभावित होकर शंकालु बना रहा। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को न स्वीकार कर नास्तिक बन जाना मेरी नजरों में अधार्मिक बन जाना था। विपश्यना में हजार अच्छाइयां होते हुए भी मैं अधार्मिक तो नहीं बनना चाहता था। विपश्यना ने मेरा जीवन बदला। मनोविकारों से विमुक्ति प्रदान करते हुए स्पष्टतया अच्छाई की ओर ही बदला। फिर भी इन आस्तिक, नास्तिक शब्दों की गलत व्याख्या के कारण मन में एक कांटासा खटकता रहता था। सिर पर एक बोझ सा बना रहता था।

वैसे तो मेरे मन में आत्मा और परमात्मा के बारे में शंकाएं भी उठती रहती थीं। यह आत्मा क्या है, कैसी है? इसके बारे में कोई स्पष्टता नहीं थी। जानता था कि भारत की एक परंपरा आत्मा को इतनी बड़ी मानती है जितना बड़ा शरीर है। याने हाथी की आत्मा हाथी के शरीर जितनी बड़ी, चींटी की आत्मा चींटी के शरीर जितनी बड़ी, मनुष्य की आत्मा मनुष्य के शरीर जितनी बड़ी। सभी आत्माओं की साइज एक जैसी नहीं है। तो प्रश्न उठता था कि मरने पर हाथी की इतनी बड़ी आत्मा चींटी के नन्हें से शरीर में कैसे प्रवेश पा सकती होगी? एक अन्य मान्यता यह भी चलती है कि आत्मा अंगुष्ठ-प्रमाण याने अंगूठे के जितनी बड़ी है। किस अंगूठे के जितनी बड़ी? यदि मनुष्य के अंगूठे के जितनी बड़ी आत्मा हो तो चींटी के शरीर में कैसे समाये भला! तो यह मान लिया गया कि जिस प्राणी की आत्मा हो वह उसी प्राणी के अंगूठे के जितनी बड़ी हो। ऐसा हो तो फिर सभी आत्माएं एक साइज की नहीं हुई, उनमें एकरूपता नहीं आई। हाथी की आत्मा हाथी के जितनी बड़ी न होकर उसके अंगूठे के जितनी बड़ी हो तो भी ऐसी आत्मा हाथी का जीवन छोड़ कर चींटी की योनि में जन्में तो चींटी के शरीर में कैसे समायेगी भला! इसीलिए एक मान्यता यह चली कि आत्मा तिल के जितनी बड़ी है। परंतु फिर कठिनाई आई कि अनेक प्राणी तिल से

भी छोटे होते हैं। तिल जितनी आत्मा भी उनके शरीर में नहीं समा पाती। तब एक मान्यता यह चली कि आत्मा बाल के नोक जितनी छोटी है। पर अनेक अदृश्य जीव इतने छोटे होते हैं कि बाल के नोक पर करोड़ों की संख्या में समा जायें। यों आत्मा को लेकर भिन्न-भिन्न मान्यताओं के कारण मानस में शंकाएं तो उठती रहती थीं परंतु इन सारी शंकाओं को दूर करने वाली एक बात प्रबल रूप से सामने आती थी और बार-बार आती थी –वह यह कि जब आत्मा ही नहीं है तो पुनर्जन्म किसका होता है? शरीर और चित्त तो दोनों ही नश्वर हैं? कुछ तो ऐसा अविनाशी तत्व होना चाहिए जो एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता हुआ चौरासी लाख योनियों में भटकता फिरता है। भले भिन्न-भिन्न योनि में वह तदनुकूल अपनी साइज बदलते रहता होगा। परंतु जब तक उसकी मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक वह भिन्न-भिन्न योनियों में भटकता तो रहता ही है। यदि पुनर्जन्म को मानते हैं तो आत्मा के अस्तित्व को मानना ही होगा। यह तो बड़ी असंगत बात होगी कि पुनर्जन्म भी मानें और आत्मा के अस्तित्व को भी नकारें। यह तर्क मुझे उन दिनों बड़ा बलवान लगता था। अतः विपश्यना के व्यावहारिक पक्ष को शत-प्रतिशत स्वीकारते हुए भी उसका सैद्धान्तिक पक्ष पूर्णतया गले नहीं उतरता था। आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाली बात अखरती रहती थी।

लगभग ऐसी ही बात ईश्वर की मान्यता संबंधी भी थी। ईश्वर के अस्तित्व पर श्रद्धा होते हुए भी अनेक प्रश्न मन में उठते थे। किसी की मान्यता है कि वह निर्गुण, निराकार है। परंतु किसी की मान्यता है कि वह सगुण, साकार है। यदि वह साकार है तो कैसा आकार है उसका? क्या वह गोरा है या काला? दो हाथ वाला है या चार हाथ वाला, या सौ हाथ वाला? क्या वह भारतीय ईश्वर की तरह बिना दाढ़ी-मूंछ वाला, अर्द्ध-नग्न और अनेक आभूषण-अलंकारों से अलंकृत खूबसूरत युवा व्यक्ति है या कि पश्चिम के ईश्वर की तरह सफेद, लम्बा चोगा पहने; सफेद, लंबी दाढ़ी और मूंछों वाला कोई वयोवृद्ध व्यक्ति है। क्या अलग-अलग संप्रदाय वालों का अलग-अलग ईश्वर होता है अथवा ईश्वर एक ही है? यदि एक ही है तो हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई, सिक्ख आदि जब आपस में लड़ते हैं, हत्याएं करते हैं, आगजनी करते हैं, देव-स्थानों को ध्वंस करते हैं तो अपने-अपने ईश्वर के नाम पर ही तो करते हैं। तब वह ईश्वर असहाय बना देखता रह जाता है। कुछ कर नहीं पाता। क्या वह सचमुच दुर्बल है, असहाय है? या जैसे लोग मानते हैं सर्व-शक्तिमान है? क्या वह अपने अनुयायियों के अत्याचारों को देख कर खुश होता है या नाखुश होता है? नाखुश होता है तो उन्हें रोकता क्यों नहीं? उन्हें सजा क्यों नहीं देता? क्या वह सचमुच न्यायी है, कृपालु है? यदि हां, तो उसने इस गन्दी चतुर्वर्णी व्यवस्था का निर्माण क्यों किया? ऐसी व्यवस्था जिसमें एक वर्ण पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्य वर्णों के अत्याचारों से पिसा जाने के लिए मजबूर कर दिया गया। इसी प्रकार एक अन्य वर्ण सभी वर्णों के मुकाबले अधिक सुविधाओं का हकदार बन बैठा। इस अन्याय, अत्याचार में उस ईश्वर का भी हाथ है तो ईश्वर न्यायी और कृपालु कैसे हुआ?

ईश्वर संबंधी ऐसे और इस जैसे अनेक प्रश्न मन में कुलबुलाया करते थे। उन दिनों की मेरी कविताओं में इस गन्दी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अंगारे फूटा करते थे। इस निकम्मी चतुर्वर्णी सामाजिक व्यवस्था के विरोध में उन दिनों रची हुई कविता की कुछ पंक्तियां याद आती हैं –

ब्राह्मण, बनिये के घर जन्मे
इससे ही क्या हम हैं महान?
हम उच्च वर्ण, हम सर्वश्रेष्ठ
ऊंचा समाज में बना स्थान॥

पुरखों से उनके पल्ले ही
सेवा का भार दिया हमने।
वे भोले मूक मनुज उनसे
क्या क्या ना काम लिया हमने?

वे रखते हमको स्वच्छ साफ
रह स्वयं घिनौने जीवन में।
जिनकी मेहनत के बल पर हम
बाबू, छैले बनते मन में॥

वे हैं अछूत, अस्पृश्य, नीच
उनको समाज में ना स्थान।
वे जन्मजात पद-दलित रहें
उनका कैसा मानापमान?

हम उच्च वर्ण हैं अतः
सुरक्षित हैं हमको सर्वाधिकार।
मंदिर, देवालय, धर्मस्थान
ईश्वर तक पर एकाधिकार॥

सब कुएं, बावड़ी अपने हैं
सड़कों तक पर चलने ना दें।
गर वश चल जाए तो उनको
पृथ्वी और पवन न छूने दें॥

मैं पूछ रहा आखिर यह सब
किस न्याय, नीति के बल पर है?
हम बने धर्म के कर्णधार
इस अनाचार में तत्पर हैं॥

मैं सोचा करता कभी-कभी
क्या परमेश्वर भी मिथ्या है?
वह चुपचाप देखता रहता
यहां हो रहा क्या-क्या है॥

हम इतना अत्याचार करें
निकले उसकी आवाज नहीं।
धरती न फटे, नभ ना टूटे
गिरती हम पर क्यों गाज नहीं?

वह ईश नहीं, जगदीश नहीं
वह सच्चा धर्म, पुराण नहीं।
जिसके आदेशों में मानव को
है समता का स्थान नहीं॥ ...आदि-आदि।

एक ओर मन में ऐसे विप्लवी विचारों के झंझावात उठते थे। दूसरी ओर आस्तिक बने रहने के लिए प्रबल तर्क चलते रहते थे।

यदि इस सृष्टि को रचने वाला कोई सृष्टा ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, तो यह महान आश्चर्यजनक सृष्टि बनी कैसे? सृष्टि-चक्र जिन नियमों से बँधा है, उन नियमों का कोई तो नियामक होगा। जगत के महान से महान और अणु से अणु, सजीव-निर्जीव सब पर जो विश्व-विधान लागू होता है, उसका कोई तो विधायक होगा?

आत्मा और परमात्मा संबंधी इस प्रकार की कशमकश में दो वर्ष बीत गये। यह तीसरे वर्ष का तीसरा शिविर था। अधिष्ठान के दौरान एकाएक एक बिजली सी कौंधी। भीतर से उद्‌बोधन हुआ – जीवन का लक्ष्य विकृत चित्त को विकारों से विमुक्त कर लेना है न कि उसे इन गलत या सही दार्शनिक मान्यताओं में उलझाए रखना है। इन मान्यताओं का मन के विकारों से क्या संबंध है? कितनी अप्रासंगिक हैं ये सारी दार्शनिक मान्यताएं? आत्मा और परमात्मा की दार्शनिक मान्यताओं को जन्म से मानता आ रहा हूं। उनके मानने मात्र से मन के विकार तो जरा भी नहीं निकले? मेरे जैसे कितने लोग आस्तिक होने का दंभ भरते हैं परंतु विकारों से तो पीड़ित ही रहते हैं। दूसरी ओर आत्मा और परमात्मा को न मानने वाले कितने विपश्यी मेरे सामने हैं जिनमें से कोई स्त्रोतापन्न हैं, कोई सकदागामी हैं जिन्होंने इंद्रियातीत अमृत का स्वयं साक्षात्कार कर लिया है, जिनके मानस की विकृतियां दुर्बल हो गई हैं। मेरे सामने कुछ एक अनागामी भी हैं जिनकी काम-वासना जड़ों से निकल गई है और जो सहज भाव से विशुद्ध ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं। मेरे सामने कम से कम एक ऐसा व्यक्ति भी है जो अरहंत अवस्था प्राप्त कर चुका है। अरहंत होने के सारे लक्षण उसमें विद्यमान हैं। जिसे नास्तिकता कहा जाता है वह इन सब की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक नहीं बनी। जो मेरी तरह अपने आपको आस्तिक होने का दंभ भरते हैं, उनको यह आस्तिकता विकार-विमुक्ति में जरा भी सहायक नहीं बन सकी, आध्यात्मिक उन्नति में जरा भी सहायता न दे सकी। तो ऐसी अप्रासंगिक, असंगत मान्यता किस काम की?

इसके साथ-साथ बुद्धि पर एक विचार और उभरा कि आखिर मैं कर क्या रहा हूं? शील, सदाचार पालन करने का भरसक प्रयत्न कर रहा हूं। मन को सांस की सच्चाई के साथ एकाग्र करने का अभ्यास कर रहा हूं। शारीरिक संवेदनाओं के आधार पर विकारों के उत्खनन का काम कर रहा हूं। यदि सचमुच कोई ईश्वर होगा तो वह बड़ा खुश ही होगा। मुझे शील, समाधि और प्रज्ञा में स्थित हुआ देख कर नाखुश कैसे होगा भला! और यदि वह ईश्वर भयभीत मानव का मानस-पुत्र ही है अथवा इन पुरोहितवर्गीय पावर-ब्रोकरों का काल्पनिक पावर-सेंटर मात्र है तो इस मान्यता का मिथ्या बोझ क्यों अपने सिर पर उठाये फिरूं? इसी प्रकार शरीर के भीतर यदि कोई अलग-थलग आत्मा है तो विकार-विमुक्ति के इस अभ्यास से उस बेचारी का कल्याण ही होगा और यदि वह अस्मिता भाव के प्रति आसक्त लोगों की एक कल्पना मात्र है तो इस काल्पनिक मान्यता का मिथ्या बोझ क्यों उठाये फिरूं?

जैसे ही यह होश जागा कि आत्मा, परमात्मा संबंधी सारा ऊहापोह समाप्त हो गया। यों लगा मानो मन पर से मनों बोझ उतर गया। मानस इतना हल्का-फुल्का हो गया कि आध्यात्मिक मार्ग की आगे की यात्रा सरल हो गई, सुगम हो गई और ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक प्रगति हुई, आत्मा और परमात्मा का सारा प्रपंच स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया। आस्तिकता और नास्तिकता की सारी उलझनें दूर होती चली गई। अब चित्त-संतति के प्रवाह को ही आत्मा स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं रह गई। सत्य को ईश्वर और परमसत्य को परमेश्वर स्वीकार कर लेने में कोई अड़चन नहीं रह गई। सद्धर्म ही वह सार्वभौमिक, सार्वकालिक परम शक्ति है जो सर्वव्यापी है, घटघटवासी है, अंतर्यामी है, निर्गुण है, निराकार है, अगम है, अगोचर है, अलख है, निरंजन है, जिसकी हुकूमत सजीव निर्जीव सब पर चलती है, जो अणु-अणु को धारण किये हुए है, अणु-अणु जिसे धारण किए हुए है, जो सारे ब्रह्माण्ड को धारण किए हुए है, सारा ब्रह्माण्ड जिसे धारण किए हुए है, जिसके विस्मयजनक विधान के आधार पर सूरज, चांद, तारे और सारी आकाशगंगाएं संचालित होती हैं, जिसके नैसर्गिक नियमों के आधार पर समग्र संसार का संसरण होता है, उत्पत्ति होती है, स्थिति होती है, लय होता है, सृजन होता है, प्रलय होती है। उसे ही अवैयक्तिक सत्ता स्वीकार कर लेने में अब कहीं कोई झिझक नहीं रह गई। बड़ा कल्याण हुआ, सचमुच बड़ा कल्याण हुआ इस अंतर्बोध से!

कल्याणमित्र,
स. ना. गो.